

आई.एस.एस.एन. संख्या : 2454-2458

नवरचना NAVRACHNA

वर्ष 1, अंक 1, जून 2015, पृ. 8-18

भूमंडलीकृत भारत में जाति-व्यवस्था, वर्ग-रचना एवं लोकतांत्रिक राजनीति

पंकज कुमार सिंह*

वैश्विक स्तर पर मानवता के स्थापना में भारतीय समाज में विद्यमान जातियों के मध्य अस्पृश्यता बहुत बड़ी बाधा है। इस कुप्रवृत्ति के उन्मूलन में भूमंडलीकरण की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण योगदान परिलक्षित होता होता है, साथ ही यह सामाजिक एकीकरण की महत्वपूर्ण आवश्यकता भी है तथा यह इस तर्क पर आधारित है कि नव-उदारवादी पूँजीवाद ने भूमंडलीकरण के द्वारा-लोकतंत्र के जिस नये रूप की रचना की है उसके तहत दलितों जैसे हाशिये पर पड़े स्थिति समूहों के आर्थिक-प्रणाली से बाहर फेंक दिये जाने का खतरा पैदा हो गया है।

वर्तमान समय में न केवल जातिभेद-विरोधी जमीनी संघर्षों को उत्तरोत्तर सुदृढ़ करने की आवश्यकता है बल्कि अंतर्राष्ट्रीय मोर्चाबंदी की भी अपरिहार्य है। 'नवीन विश्व-व्यवस्था' में सैनिकीकरण, रंगभेद और राष्ट्रीय समाजों के भीतर होनेवाले शोषण-दमन की संरचनाएँ अंतर्गुम्फित हो गयी हैं। राष्ट्रीय अर्थतंत्र इस विश्व-व्यवस्था से जितना ज्यादा जुड़ेंगे उतना ही दलित सरीखे तबको को आधुनिक क्षेत्र में अधीनस्थ बनाने की सम्भावनाएं प्रबल होती जाएँगी। जाति के अंतर्राष्ट्रीयकरण का विरोध करने वाले समूह को ब्राह्मणवाद के अभिकर्ता माना जा सकता है। भारतीय जनमानस में श्वेतांगों के प्रति पारंपरिक आसक्ति की जड़ें एवं वर्तमान समयावधि में परिवर्तनकारी शक्तियों के विरोध की मानसिकता वर्ण-व्यवस्था से सन्निहित दिखाई देती हैं।

भारत में जातियों के मध्य रंगभेदी प्रवृत्तियां लोगों के व्यावहारिक चिंतन और दैनंदिन कार्य-व्यवहार में देखी जा सकती है। उच्च जातियां अपने-आप को श्वेतांगों (आर्य) की वंश परंपरा से सम्बद्ध मानती हैं, जिसका आधार यह है कि सामान्यतया वर्ण का सम्बन्ध त्वचा के रंग से लगाया गया है, जिसकी मनोग्रंथि मस्तिष्क में आज भी विद्यमान दिखाई देती है, जो परंपरागत स्तर पर जातियों के साथ मिलकर रंगभेद की एक भारतीय किस्म का निर्माण कर देता है। उच्च जातियों द्वारा दलितों पर नियोग्यताओं का अनुगमन प्रजातीय भेदभाव से भी अधिक गंभीर और जघन्य है। इसके लिए जातिवाद-विरोधी संघर्ष को अंतर्राष्ट्रीय आयाम दिये जाने की आवश्यकता है। लोकतंत्र का नव-उदारवादी विचार वित्तीय पूँजी के नये प्रसारात्मक चरित्र के अनुरूप प्रत्येक सामाजिक आयाम का भूमंडलीकरण करने पर तुला हुआ है। अतः यह आवश्यक है कि भारतीय समाज के भीतर जातिभेद को मजबूत करने वाली राष्ट्रीय संरचनाओं की पहचान की जाये और उनके खिलाफ संघर्ष किया जाये, जो जाति का अंतर्राष्ट्रीयकरण किये बिना संभव नहीं है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाया जाना चाहिए कि यहां भारतीय समाज में जमीनी स्तर पर होने वाले जातिभेद-विरोधी संघर्ष को कमजोर करने या उसे अंतर्राष्ट्रीय प्रतिमानों के अनुरूप चलाने के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किया जा रहा है। मेरा तर्क तो यह है कि समता के लिए पिछले डेढ़ सौ वर्ष से चल रही मुहिम के एक महत्वपूर्ण आनुषांगिक आयाम के रूप में इस प्रयास को संभावनापूर्ण समझा जाना चाहिए।

*प्रवक्ता समाजशास्त्र, महाराणा प्रताप राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिल्सी (बदायूं)

दलितों पर होनेवाले अन्याय की प्राचीनता, उसको दी गयी धार्मिक और शास्त्रोक्त मान्यता और उसके उन्मूलन की कोशिशों को अभी तक पूरी सफलता न मिल पाना इस बात का प्रमाण है कि अन्याय का यह रूप असल में नस्ली भेदभाव से भी गंभीर और जघन्य है। यहां प्रबल तर्क यह है कि प्रत्येक समाज की अपनी समस्याएँ होती हैं, जो दूसरे समाजों से भिन्न होती हैं, अतः उसके समाधान के तरीके भी भिन्न होंगे। डरबन सम्मेलन के संदर्भ में जातिगत भेदभाव को नस्ली भेदभाव के तहत परिभाषित करवाने की कोशिश के खिलाफ इस तरह के तर्क वास्तव में मौजूदा अन्यायपूर्ण व्यवस्था को बनाये रखने की चाल के सिवा कुछ नहीं हैं। यदि काफी नरमी से कहा जाये तो भी यह सामाजिक यथास्थितिवादियों की प्रतिरक्षात्मक प्रतिक्रिया ही मानी जायेगी। इस संदर्भ में प्रकाश लुइस, कांचा ऐलरिया और डी.आर.नागराज के विमर्श काफी महत्वपूर्ण और बुनियादी हैं। नब्बे के दशक से ही अकादमीय और राजनीतिक क्षेत्रों में धार्मिक आधार पर की गोलबंदी के साथ-साथ जाति के राजनीतिक इस्तेमाल की निंदा करने की प्रवृत्ति भी जारी है। इसके विपरीत यह देखा गया है कि जाति-आधारित गठजोड़ों और चुनावी समीकरणों ने संघ परिवार द्वारा प्रवर्तित सांप्रदायिक राजनीति के बढ़ते उफान को बड़ी हद तक थाम लिया है। इसने भारत के धर्मनिरपेक्ष बने रहने में निर्णायक योगदान किया है। यदि इसे भूमंडलीकरण के खिलाफ संघर्ष के रूप में भी देखा जाये तो इसके और सकारात्मक नतीजे निकल सकते हैं। मेरी मान्यता है कि इस तरह जाति को भूमंडलीय मंच पर ले जाने के भी कल्याणकारी नतीजे निकल सकते हैं।

हजारों साल पुरानी जाति-व्यवस्था को उसका यह नाम केवल पाँच सौ वर्ष पूर्व मिला। मालाबार के तट पर उतरने वाले पुर्तगालियों द्वारा किया गया यह नामकरण भारतीय समाज के साथ उनके 'प्रत्यक्ष अनुभव' का नतीजा था। पुर्तगालियों ने शब्द 'जाति' की व्युत्पत्ति पुर्तगीज भाषा के शब्द 'कास्टा' से की थी। तभी से सम्पूर्ण वर्ण-जाति-व्यवस्था को वर्णित करने के लिए इस 'कास्ट' अथवा 'जाति' नामक शब्द का सामान्यतः इस्तेमाल होने लगा। इसके प्रयोग से इस व्यवस्था में अंतर्निहित विभिन्न नियमों, प्रथाओं और इकाइयों को भी अभिव्यक्ति मिल जाती है लेकिन, पुर्तगालियों ने जाति की केवल 'खोज' ही नहीं की वरन् एक यूरोपीय समुदाय के रूप में उन्हें वर्ण-जाति-व्यवस्था के संचालन का विस्तृत ब्योरा पहली बार पेश करने का श्रेय भी है। सोलहवीं शताब्दी के एक पुर्तगाली दुआर्ते बरबोसा द्वारा दिया गया जाति का विवरण सर्वाधिक वोधगम्य और तथ्यात्मक साबित हुआ। बरबोसा ने जाति के पाँच प्रमुख तत्वों की पहचान की: (अ) जाति को एक श्रेणीबद्ध व्यवस्था बताया जिसके शीर्ष पर ब्राह्मण और सबसे नीचे 'अछूत' थे, (ब) अस्पृश्यता को 'अपवित्रीकरण' के विचार से जोड़ कर देखा, (स) नाना प्रकार की जातियों के बीच में भिन्नता की पहचान, सजातीय और सगोत्रीय विवाह, व्यवसाय और सहभोज के आग्रह के आधार पर की, (द) जातियों द्वारा अपने रीति-रिवाजों और नियम-कानूनों को कायम रखने के लिए तरह-तरह की पाबंदियाँ लगाने का जिक्र किया, (ध) जाति के राजनीतिक संगठन के साथ सम्बन्ध को भी देखा। यद्यपि बरबोसा ने जाति-वर्ण-व्यवस्था का कोई 'क्रमिक' वृत्तांत नहीं लिखा, लेकिन आज भी जाति की प्रत्येक परिभाषा उसके द्वारा खोजे गये जाति के मूल तत्वों के आस-पास ही घूमती है। बरबोसा ने जाति का जो ब्योरा दिया उसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नवत हैं—प्रथम— जाति-सम्बन्धी रपट के आधार जमीनी स्तर पर तैयार किया गया जाति का आँखो-देखा काम-काज था और उसने अपने तथ्य आम लोगों से उनकी भाषा से बातचीत करके जमा किये थे। द्वितीय— जाति-सम्बन्धी जानकारी के लिए धर्मशास्त्रों को सूचना के स्रोत के रूप में इस्तेमाल नहीं किया था, इसलिए उसने अपने वर्णन में जाति के किसी वर्ण-सिद्धांत का हवाला नहीं दिया। तृतीय— सम्पूर्ण व्यवस्था के संचालन के साथ न जोड़ कर अस्पृश्यता की प्रथा का सम्बन्ध 'अपवित्रीकरण' के विचार से जोड़ा। चतुर्थ— जाति को सिर्फ कर्मकांडों (धर्म-विधियों) और उनसे जुड़े दर्जे के चश्में से न देख कर नाना प्रकार के 'स्वशासित' सांस्कृतिक समुदायों के रूप में देखा। पंचम— बरबोसा ने जो देखा और जो सुना, उसी को तथ्यात्मक विवरण के रूप में प्रस्तुत कर दिया। उस पुर्तगाली ने जाति-व्यवस्था पर कोई नैतिक टिप्पणी करने अथवा उसे सही-गलत ठहराने से परहेज किया।

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय समाज-व्यवस्था में विद्यमान उच्चतर और निम्नतर की वैचारिकी में विभिन्न गुणात्मक परिवर्तन हुए, लेकिन उनकी व्याख्या उन्हीं औपनिवेशिक विचारधारा के अनुरूप मूल्य-निर्धारक शैली में की जाती रही, चाहे जाति का अध्ययन करनेवाला समाजशास्त्री वर्ग हो, भारत को जाति-विहीन समाज बनाने

का आग्रह रखनेवाले समाज—सुधारक अथवा चिंतक, सभी ने इन परिवर्तनों का वर्णन औपनिवेशिक विमर्श से प्राप्त शब्दावली और विचार—श्रेणियों में किया। इसके कारण जाति—व्यवस्था में आये परिवर्तनों के बारे में दो परस्पर विपरीत विचार उभरे। इनमें से एक विचार ने उन संरचनागत और सांस्कृतिक निरंतरताओं पर जोर दिया जिनकी अभिव्यक्ति आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में हुई थी। यह विचार आजादी के बाद हुए जाति—सम्बन्धी अध्ययनों पर अधिकांशतः हावी रहा है। यह विचार जाति—व्यवस्था में हुए परिवर्तनों को उसके द्वारा अपने बचे रहने और अनुरक्षण के लिए किये गये कामकाजी समायोजन के रूप में देखता है (कोहन, 1987: 139-40)। दूसरा विचार आधुनिकीकरण को एक रैखिक और सार्वभौम ऐतिहासिक शक्ति के रूप में देखता है। यह मानता है कि आधुनिकीकरण जाति—व्यवस्था को आर्थिक वर्गों के रूप में ध्रुवीकृत संरचना में बदल रहा है। यह विचार हाल तक जाति—सम्बन्धी राजनीतिक विचारधारात्मक विमर्श को गहराई से प्रभावित करता रहा है तथा स्वतंत्र भारत में जाति—सम्बन्धी बहस 'परंपरा' बनाम 'आधुनिकता' और 'जाति' बनाम 'वर्ग' के द्विभाजन में फंसी रही है।

जाति—व्यवस्था में हुए परिवर्तनों को समझने की इस सीमित द्विभाजक दृष्टि का विद्वानों, नीति—निर्माताओं और राजनीतिक कार्यकर्ताओं पर एक—सा असर पड़ा। इसके प्रभाव में ये लोग उन प्रक्रियाओं को नहीं देख पाये जिनके कारण जाति में परिवर्तन आया और एक नवीन प्रकार का श्रेणीक्रम उभरा। इस प्रक्रिया को मोटे तौर पर जाति का धर्मनिरपेक्षीकरण कहा जा सकता है। इसने जाति को उसके कर्मकांडीय दर्जे से काट कर अलग कर दिया (घुरिये, 1962: 270-305)। साथ ही इस प्रक्रिया के कारण जाति को स्पर्धात्मक लोकतांत्रिक राजनीति में सक्रिय सत्ताकांक्षी समूह का चरित्र मिल गया। इस लिहाज से जाति के धर्मनिरपेक्षीकरण को दो भागों में बांट कर समझा जा सकता है—कर्मकांडीयता से मुक्ति और राजनीतिकरण। इस बदलाव के जाति पर कई असर पड़े : (अ) जाति परंपरागत श्रेणीक्रम की सीमाओं से बाहर हो गयी, (ब) वह प्रतिनिधित्वमूलक सत्ता की नयी संरचना से जुड़ गयी, (स) विभिन्न जातियों के सदस्य व्यक्ति के रूप में नये आर्थिक हितों और सामाजिक—आर्थिक पहचान को ग्रहण कर पाये और उन्हें वर्गीय और जातीय अस्मिताएं मिल पायीं। इस प्रकार कर्मकांडीयता से मुक्ति और राजनीतिकरण के जरिये धर्मनिरपेक्षीकरण ने जाति—व्यवस्था में एक तीसरे परिवर्तन की गुंजाइश पैदा कर दी, जिसे जाति से वर्ग की ओर रूपांतरण के रूप में समझा जा सकता है।

जाति—व्यवस्था के प्रभावरोधी चरित्र की गारंटी हो जाती है क्योंकि वह कुछ निश्चित विचारधारात्मक संरचनागत संदर्भों से बंधी रहती है और ऐसा संदर्भ किसी—न—किसी तरह के कर्मकांड में व्यक्त होता है। इन संदर्भों को निम्न रूपों में समझा जा सकता है : (अ) कर्मकांडीय शुद्धता और अपवित्रीकरण की धार्मिक विचारधारा, (ब) धार्मिक रूप से मान्यता प्राप्त गांव का प्रौद्योगिकीय—आर्थिक और राजनीतिक संगठन, विशेष कर उसकी खाद्य उत्पादन और वितरण व्यवस्था, (स) सैकड़ों सालों में बनी जातियों की परंपराएं और रीति—रिवाज। जाति ने न केवल इन संदर्भों में अपना अनुरक्षण किया बल्कि इन्हीं संदर्भों में विकसित होते हुए अपना प्रणालीगत ढाँचा प्राप्त किया है। इन्हीं संदर्भों ने जाति के कर्मकांडीय श्रेणीक्रम के लिए 'समर्थन आधार—तंत्र' की रचना की है (ओमविट 1969)।

उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद भारतीय समाज में आये परिवर्तनों के कारण जाति का कर्मकांडीय आधार समाप्त हो गया, जो उसे श्रेणीक्रम में एक स्थिर संस्तर, एक निश्चित व्यवसाय और सहभोज और सजातीय विवाह के तयशुदा रूपों से बांध देते थे। कर्मकांडीयता के इस क्षय के कारण जाति के 'समर्थन आधार—तंत्र' का एक बड़ा हिस्सा ध्वस्त हो गया है (गैलेन्टर 1994: 18-40)। कर्मकांडीय रूप से निर्धारित विचारधारात्मक, आर्थिक और राजनीतिक संदर्भों से उखड़ जाने के बाद जाति श्रेणीक्रम में अपने कर्मकांडीय स्तर की इकाई नहीं रह गयी है। जाति अब एक ऐसे सांस्कृतिक समुदाय के रूप में जीवित है जो कुटुम्ब आधारित तो है लेकिन जो अलग तरह के सामाजिक श्रेणीक्रम में उदीयमान व्यवस्था के तहत सक्रिय रहता है।

भारतीय अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण और भारतीय लोकतांत्रिक संस्थाओं के लोकतांत्रिकीकरण ने समाज में नयी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता को जन्म दिया है। जातियों के श्रेणीबद्ध रूप में व्यवस्थित तबके वर्तमान समय में क्षैतिज रूप से विश्वस्त समूहों के रूप में समाज के संसाधनों पर कब्जे और सत्ता के लिए आपस

में स्पर्धा करते हैं। संगठनात्मक ढांचे में हुए इस परिवर्तन अर्थात् नीचे से ऊपर तक स्तरित ढांचे की बजाय नये क्षैतिज संगठन के कारण उसकी चेतना का रूप भी बदल गया है। अब किसी जाति के सदस्यों की चेतना सामुदायिक रूप में व्यक्त होती है, न कि श्रेणीक्रम की शब्दावली में। जाति-चेतना अब समूहों की राजनीतिक चेतना के रूप में सामने आती है। इसके तहत ये समूह बदली हुई सामाजिक-राजनीतिक संरचना में अपने लिए अवसरों की तलाश करते हैं और इस तरह उनके द्वारा सत्ता पर दावेदारी पेश की जाती है। इस नयी जाति चेतना के उदय से श्रेणीक्रम द्वारा स्थापित सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गये हैं और जातियों के अंदर और उनके बीच प्रतियोगिता और संघर्ष ने जन्म ले लिया है। जाति व्यवस्था को सुदृढ़ करने की बजाय 'जाति-चेतना' के इस स्पर्धात्मक चरित्र ने उसके प्रणालीगत बिखराव में योगदान किया है। परंपरागत ऊँच-नीच की बिखरती हुई व्यवस्था पर सत्ता की नयी व्यवस्था बेहद हावी होती जा रही है और सत्ता की इस नयी व्यवस्था की रचना चुनावों और राजनीतिक दलों के साथ-साथ काफी हद तक राज्य द्वारा अपनायी गयी आरक्षण जैसी सामाजिक नीतियों द्वारा की गयी हैं (शाह 1988: 92-133)।

समाज की व्यवसायमूलक संरचना में भी बुनियादी परिवर्तन हुए हैं। पूर्व में एक निश्चित व्यवसाय से बंधे समूहों में अब कई तरह के गैरपारंपरिक पेशे और नये तरह के सामाजिक सम्बन्धों का बोलबाला होता जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप अनुवांशिकता, कर्मकांडीय दर्जे और व्यवसाय के बीच का सूत्र टूट गया है जबकि यह जाति-व्यवस्था को परिभाषित करनेवाले सूत्रों में से एक रहा है। अब अपने व्यवसाय को उसके साथ जुड़ी हुई कर्मकांडीय शुद्धता या अशुद्धता के अनुरूप न्यायोचित ठहराना किसी के व्यवसाय की कर्मकांड-आधारित पवित्रता अथवा अपवित्रता महत्वपूर्ण नहीं रह गयी है। इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि पवित्रता और स्वच्छता के आग्रह अब कर्मकांडीय अथवा नैतिक के स्थान पर शारीरिक और जैविक संदर्भों में देखा जाता है (देसाई 1984: 110-16)।

प्रत्येक जाति में संरचना के स्तर पर महत्वपूर्ण विभेद भी हो गये हैं। कर्मकांडों और रीति-रिवाजों से बंधी हुई एक जाति पारंपरिक रूप से अपना आंतरिक कार्य-व्यापार काफी-कुछ समता-आधारित समुदाय के रूप में चलाती थी। उसके सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति विभेद नहीं किया जाता था। जाति के अंदर अलग-अलग परिवारों की संपत्ति और कौटुंबिक हैसियत का आपसी अंतर विवाह और अंत्येष्टि जैसे अवसरों पर अक्सर बड़े संकोच के साथ व्यक्त होता था। जाति के अन्दर समुदायों पर आपस में इस अंतर के द्वारा अपनी चौधराहट थोपने की घटनाएं बेहद विरल थीं। आज स्थिति बदल गयी है। एक जाति के परिवार अपने व्यवसाय, शिक्षा, आमदनी और जीवन-शैली के दृष्टिकोण से एक दूसरे से भिन्न हो गये हैं तथा इस भिन्नता के आधार पर उन्होंने अपनी जाति से बाहर समूहों और सामाजिक-आर्थिक आधार वाले स्थिति समूहों में ऐसे गठजोड़ करने शुरू कर दिये हैं जिनकी जाति-व्यवस्था के परंपरागत परिधि में शिनाख्त नहीं की जा सकती।

सहभोज-सम्बन्धी जातिगत नियम अब घर के बाहर पूरी तरह निष्प्रभावी हो गये हैं तथा घर के अंदर भी इन नियमों का ढीले-ढाले तरीके से ही पालन किया जाता है। जिन स्थानों पर जाति पंचायतों का अस्तित्व है, वे अब ऐसे मामलों में यदा-कदा ही आपत्ति या पाबंदियां दर्ज करती हैं।

पारंपरिक श्रेणीक्रम में एक समान कर्मकांडीय स्थितिवाली कई जातियां आपस में सगोत्र विवाह के नियमानुसार उपजातियों में बंटी होती हैं। अब ऐसी जातियां भी कहीं ज्यादा बड़े सजातीय विवाह के दायरों में पहुँचती जा रही हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी हो रहा है कि उन्होंने विवाह के मामले में अपना दायरा एक क्षेत्र के तहत अपने वर्ण तक बढ़ा लिया है। इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि विभिन्न कर्मकांडीय स्थित समूहों के बीच अंतर्जातीय विवाह और वर्ण की सीमाओं को लॉघ कर होनेवाले विवाह भी अब अपवाद नहीं रह गये हैं। इस तरह के विवाह में एक सी शिक्षा, व्यवसाय और वर-बधू और उनके माता-पिता की सम्पत्ति को आधार बनाया जाता है और उनके कर्मकांडीय दर्जे की उपेक्षा कर दी जाती है। ऐसी अंतर्जातीय विवाह सामान्यतया या तो मां-बाप स्वयं ही कराते हैं या फिर लड़के-लड़की द्वारा विवाह पश्चात् माता-पिता का आर्शीर्वाद मिल जाता है। इस तरह के मामले में परंपरा अभी भी शाकाहारी बनाम मांसाहारी के रूप में घुसपैठ करती है लेकिन यह द्विभाजन भी अब काफी धुंधला पड़ता जा रहा है। हो सकता है कि आंकड़ों के लिहाज से इस तरह के अंतर्जातीय

विवाहों की संख्या काफी न हो, लेकिन निश्चित रूप से वे एक महत्वपूर्ण सामाजिक रुझान की ओर इशारा अवश्य करते हैं। इस प्रकार के विवाह उस प्रक्रिया की संकेत करते हैं जिसके कारण सजातीय विवाह के जाति नियम कमजोर होते जा रहे हैं।

वर्तमान समय में पारंपरिक जाति-व्यवस्था की विचारधारा और संगठन में काफी हद तक परिवर्तन आया है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया न सिर्फ नगरों को अपितु गांवों में भी परंपरागत सामाजिक सम्बन्ध आर्थिक शब्दावली में पुनर्परिभाषित हो रहे हैं। पिछले तीस वर्षों में ग्राम का सामाजिक संगठन काफी हद तक परिवर्तित हुआ है (श्रीनिवास 1996) और इसका श्रेय 'हरित क्रांति' और उसके पश्चात खाद्य उत्पादन और उसकी वितरण प्रणाली में राज्य और अन्य बाहरी एजेंसियों की भूमिका को जाता है। भारतीय राज्य अपनी सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था के रूप को त्याग कर दिनों-दिन बुनियादी तौर पर एक आर्थिक संगठन में बदलता जा रहा है। पुरोहिताई करने वाले, व्यापारी और सेवा करने वाली जातियां अर्थात् खेती के काम-काज से सीधे जुड़े न होनेवाले सामाजिक समूह या तो गांव छोड़ते जा रहे हैं या फिर अब उनकी सेवाओं की जरूरत होती है तो वे पड़ोस के कस्बों और शहरों से आकर उन्हें अंजाम देते हैं। इन जातियों के जो सदस्य अभी भी गांव में रह रहे हैं वे अधिकांश जातियों की आर्थिक-सामाजिक परस्पर निर्भरता की ग्राम-व्यवस्था के दायरे से निकल चुके हैं। उनका कार्य-व्यापार उत्तरोत्तर राष्ट्रीय स्तर पर उभरती बाजार से जुड़ी ग्रामीण अर्थव्यवस्था के दायरे में होता जा रहा है या फिर वे रोजगार के द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रों में चले गये हैं।

परिवर्तन की इस प्रक्रिया में जाति ने संरचनागत रूप से अपने सम्बन्ध कर्मकांडीय कर्तव्यों और अधिकारों की उस व्यवस्था से तोड़ लिये हैं जो कभी उसके आर्थिक और सामाजिक अस्तित्व को निर्धारित और कर्मकांडीय श्रेणीक्रम में उसे उसका दर्जा प्रदान करती थी। आज गांव के अंतर्जातीय सम्बन्ध अधिक सरलीकृत रूप में आ गये हैं। अब भूस्वामी किसानों की जातियों और भूमिहीन मजदूरों की जातियों के आपसी सम्बन्ध के रूप में इन्हें देखा जा सकता है। ये सम्बन्ध प्रायः दो अलग-अलग जाति-समूहों की उस राजनीतिक चेतना के सदर्थ में व्यक्त होते हैं जो गांव की बदली हुई राजनीतिक अर्थव्यवस्था के तहत अलग-अलग आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करती नजर आती हैं।

गांवों के आर्थिक सम्बन्धों में सामाजिक-धार्मिक तात्पर्य अब लगभग नहीं के बराबर रह गया है। ये पहलू अधिकाधिक संविदात्मक और लगभग पूरी तरह मुद्रीकृत हो गये हैं। पहले जातियों के बीच सामाजिक-कर्मकांडीय संदर्भ में आर्थिक विनियम परंपरागत जजमानी प्रथा के जरिये होता था। अब इस प्रथा की जगह सेवायोजक और सेवक तथा पूंजी और उभरते श्रम के सम्बन्धों ने ले ली है। जब कभी कोई जाति आर्थिक सम्बन्धों के पारंपरिक सामाजिक और धार्मिक पहलुओं पर जोर देती है तो अक्सर उसका परिणाम गांव में जाति-विग्रह और हिंसा में निकलता है। जहां कहीं जातियों के बीच कर्मकांडीय सम्बन्ध अभी बाकी हैं, वहां उन्होंने संविदात्मक और अक्सर प्रतिद्वंद्वतात्मक रूप लेकर जाति-व्यवस्था के श्रेणीबद्धतावाले पहलुओं को नकार दिया है। कुछ जातियों के सदस्य (जैसे पुरोहित और नाई) अभी भी कर्मकांड-आधारित भूमिकाएं निभाते हैं लेकिन अब उनकी यह भूमिका शादी अथवा अंत्येष्टि आदि खास मौकों पर भुगतान के बदले किये जानेवाले काम की रह गयी है अब किसी जाति के कुछ सदस्यों द्वारा ऐसी भूमिकाएं निभाने से समाज के बदले हुए स्तर-विन्यास में उस जाति का स्थान प्रभावित नहीं होता। लगता यह है कि अब ये परंपरागत भूमिकाएं इस बदली हुई प्रणाली के बाहर हिंदू धार्मिक प्रथाओं का अंग बन कर रह गयी हैं। जाहिर है कि पिछले कुछ वर्षों में हिन्दू धर्म में इतने बड़े-बड़े परिवर्तन घटित हो गये हैं कि अब अंतर्जातीय सम्बन्धों को कर्मकांड-आधारित धार्मिक प्रथाओं के आधार पर निर्धारित नहीं किया जा सकता। नये संप्रदायों, नये देवी-देवताओं और नये तीर्थस्थलों की लोकप्रियता बढ़ रही है। नये-नये गुरु और उपदेशक पैदा होते जा रहे हैं। अब हिन्दू धार्मिक त्योहारों को कहीं बड़े सामाजिक और भौगोलिक पैमाने पर मनाया जाता है और उनमें विभिन्न क्षेत्रों और कर्मकांड-आधारित दर्जों वाली नाना प्रकार की जातियों के सदस्य भाग लेते हैं। इन तमाम परिवर्तनों ने हिन्दू धर्म के लोकप्रिय-सांस्कृतिक और राजनीतिक पहलुओं को मजबूत किया है। इनके कारण हिन्दू धर्म के परंपरागत कर्मकांडीय और समाज-संबंधी संगठनात्मक पहलू में काफी कमजोरी आ गयी है। इस प्रक्रिया में अंतर्जातीय सम्बन्धों के व्यवस्थामूलक संदर्भ ही नहीं, वरन काफी हद

तक धार्मिक संदर्भ भी तिरोहित हो गये हैं। अब जातियों को नये उदीयमान सामाजिक स्तर-विन्यास में अपने दर्जे का दावा करना पड़ रहा है।

इस प्रकार जाति-व्यवस्था में एक साथ दो तरह के परिवर्तन पाये जा सकते हैं। एक तरफ जातियों का सम्बन्ध कर्मकांड-आधारित श्रेणीक्रम से टूट गया है और दूसरी तरफ प्रत्येक जाति के अन्दर विभिन्न स्तरों के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विभेदीकरण उत्पन्न हो गये हैं। इन दो परिवर्तनों के कारण जातियों को तरह-तरह की सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं का रूप लेना पड़ रहा है। ये संरचनाएँ नयी और कहीं ज्यादा व्यापक हैं। ये भारतीय समाज के नये स्तर-विन्यास के कारण उभरी हैं।

भारत की स्पर्धात्मक राजनीति मॉग करती थी कि राजनीतिक दल व्यापक चुनावी आधार प्राप्त करने के लिए जातियों को न तो केवल विशुद्ध 'हितो' के नजरिये से देखें और न ही केवल 'अस्मिता' अथवा 'पहचान' के संदर्भ में समझे। जातियों की राजनीति में भागीदारी ने हितों और 'अस्मिता' को कुछ इस प्रकार से सम्बद्ध कर दिया था कि कई जातियाँ बड़े-बड़े सामाजिक-आर्थिक जमावड़ों के रूप में समान हितों और अस्मिताओं के दावे में सहभागिता करती नजर आती थी। यह प्रक्रिया जातियों का राजनीतिकरण थी जिसके कारण स्पर्धात्मक राजनीति के रंग में रंग कर जातियों का आपसी ऊँच-नीच और अलगाव वाला पहलू ज्यादा बड़े सामाजिक समुदायों के साँचे में ढल रहा था (सेठ 1996: 31-40)। ये नये समुदाय वर्ण की श्रेणी से कतई मिलते-जुलते नहीं थे और न ही ये राजनीति में वर्गों की तरह ध्रुवीकृत हुई संरचनाओं के समान थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोकतंत्र की स्पर्धात्मक राजनीति का जाति व्यवस्था पर एक सबसे बड़ा प्रभाव जातियों के बीच पुराने ऊँच-नीच वालों सम्बन्धों के निष्प्रभावी हो जाने के रूप में पड़ा और परिणामस्वरूप जातियों के बीच नये क्षैतिज सत्ता-सम्बन्ध उभर कर आये (सेठ 1996: 31-40)।

जातियों के राजनीतिकरण ने कांग्रेस पार्टी की राजनीति के द्वारा काफी मनोनुकूल स्वरूप ले लिया। इस पार्टी ने जान-बूझ कर वर्ग बनाम जाति की बहस पर कोई निश्चित सैद्धांतिक-विचारधारात्मक दृष्टिकोण नहीं अपनाया। कांग्रेस खेतिहर सदस्यों में हो रहे परिवर्तनों को राजनीतिक रूप से समझती थी इसलिए उसने जातियों को ऐसे सामाजिक-आर्थिक समुदायों की तरह देखा जो पुराने कर्मकांड-आधारित संवर्ग के स्थान पर राजनीति के द्वारा नवीन पहचान प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे। एक तरफ वह चुनावी राजनीति के लिए जाति-समीकरण पर निर्भर रही है, दूसरी तरफ उसने राजनीतिक मुद्दों को आर्थिक विकास और राष्ट्रीय एकता-अखंडता की शब्दावली में व्यक्त करना जारी रखा। इस प्रकार कांग्रेस ने जातियों की सीमाएँ लांगते हुए टिकाऊ चुनावी आधार बना लिया और साथ ही सच्चे अर्थों में देश की एकमात्र राष्ट्रीय पार्टी की छवि भी बनाये रखी। 'जाति राजनीति' और 'राष्ट्रीय विचारधारा' का यह विजयी गठजोड़ लंबे समय तक चला (कोठारी 1964: 1101-73) और इसके द्वारा कांग्रेस ने आजादी के बाद लगभग तीस वर्ष तक भारतीय राजनीति पर अपना वर्चस्व-कायम रखा। कांग्रेस ने अपने राजनीतिक विमर्श में द्विज बनाम नीची जातियों अथवा पूँजीपति वर्ग बनाम मजदूर वर्ग जैसी द्विभाजक तुलनाएँ शायद ही कभी इस्तेमाल की हों। उसकी राजनीति तो अधिकांशतः नयी उदीयमान द्विज जातियों और अंग्रेजीभाषी 'राष्ट्रीय प्रभु-वर्ग' के शासन को निचली जातियों के समर्थन आधार से लंबवत जोड़ने की रही। राजनीति में ऊपर से नीचे तक की जा रही इस सामाजिक संधि को वैधता प्रदान करनेवाली विचारधारा न तो जाति-विचारधारा थी और न ही वर्ग-विचारधारा। कांग्रेस ने यह काम 'राष्ट्र-निर्माण' की अवधारणा के तहत पंसद किया।

कांग्रेस पार्टी ने राष्ट्रीय स्तर पर अपनी नीतियों और कार्यक्रमों को भारतीय जनता की 'राष्ट्रीय आकांक्षाओं' के स्वरूप में प्रस्तुत किया। क्षेत्रीय स्तर पर कांग्रेस ने अपने सामाजिक आधार को संख्यात्मक दृष्टि से मजबूत और तेजी से प्रगति कर रहे दबदबे वाली लेकिन परंपरा के दृष्टिकोण से निम्न स्थिति भूस्वामी किसान-जातियों की सत्ता को मान्यता दे कर सुदृढ़ किया। उसने महाराष्ट्र से मराठों, आंध्र से रेडिंडियों, गुजरात से पाटीदारों, उत्तर प्रदेश से जाटों जैसी जातियों को अपना समर्थन दिया। इस प्रक्रिया में उसने चुनावी राजनीति में कुछ ऐसे सम्बन्धों का ताना-बाना खड़ा किया जो संरक्षक और आश्रित के बीच होता है। यह संरक्षक और आश्रितों के बीच असमान लेकिन विश्वसनीय लेन-देन का सम्बन्ध था। सवर्णों की राजनीतिक संरक्षक,

प्रभुत्वशाली मॅजोली जातियों की और आश्रित तथा अनगिनत निचली जातियों की स्थिति आश्रित की थी, जिन्हें कांग्रेस के वोट बैंक की तरह देखा जाता था। अतः स्वतंत्रता के बीस वर्ष बाद तक श्रेणीबद्ध जाति-सम्बंध चुनावों के जरिये राजनीतिक रूप से संशोधित होते रहे हैं और इसके माध्यम से कांग्रेस जातियों के बीच अपने पक्ष में एक राजनीतिक सहमति सुनिश्चित करती रही। अंग्रेजी शिक्षित अभिजनों ने उस क्षेत्रीय सामाजिक प्रभु-वर्ग के साथ गठजोड़ कर लिया जो कामोबेश भूस्वामी किसानों की ताकतवर जातियों के सदस्य थे। अंग्रेजी शिक्षित अभिजन खुद को 'राष्ट्रीय' मानते थे। उनकी आत्मछवि थी कि वे इस देश में आधुनिकीकरण के वाहक हैं। इस अभिजन को क्षेत्रीय अभिजन अक्सर संकीर्णता से भरे हुए और पंरपरानिष्ट छवि के लगते थे लेकिन इसके बावजूद यह गठजोड़ चलता रहा।

अभिजनों के दो प्रकार की भागीदारी की अंतस्थल से समाज में प्रतिनिधित्व की एक नयी संरचना निकली जिसे केंद्र बना कर एक छोटा सा मध्यवर्ग विकसित हुआ। यह मध्यवर्ग शहरों में रहनेवाले द्विज राष्ट्रीय अभिजन, ताकतवर किसान-जातियों से आये ग्रामीण सामाजिक अभिजन और देहात में रहनेवाले सवर्णों से मिल कर बना था। राष्ट्रीय अभिजन जैसे तो 'द्विज' जातियों से निकलता था लेकिन वह अपने पंरपरागत कर्मकांड आधारित दर्जे और कार्य-व्यापार से कट चुका था। बदली हुई नियोजित अर्थव्यवस्था में उसके नये स्वार्थ पनप चुके थे। उसकी-शैली आधुनिक शिक्षा गैरपारंपरिक पेशों और एक सीमा तक हुए पश्चिमीकरण के कारण बदल चुकी थी। क्षेत्रों में ताकतवर किसान-जातियों से आये हुए ग्रामीण अभिजन बेहतर सामाजिक दर्जा पाने की कोशिशों में अभी भी पश्चिमीकरण के मुकाबले संस्कृतीकरण पर ज्यादा निर्भर थे। लेकिन वे अपनी नयी पीढ़ी को अंग्रेजी माध्यम की आधुनिक शिक्षा लेने के लिए तथा नये व्यवसायों को अपनाने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे। यह वह प्रक्रिया थी, जिसके कारण अपने 'क्षुद्र' उदगम के बावजूद कई किसान समुदाय बदले हुए ग्रामीण अर्थतंत्र और राजनीति में सत्ता हस्तगत करने के कारण मध्यवर्गीय द्विजों के समान ही सामाजिक दर्जा प्राप्त कर सके। परिणामस्वरूप पाटीदारों, मराठाओं, कम्माओं, रेड्डियों और ऐसी ही अन्य जातियों को विभिन्न क्षेत्रों में सवर्णों की तरह देखा जाता है, न कि पिछड़ी जातियों की तरह। द्विज जातियों की ही तरह आधुनिक शिक्षा और नये (नियोजित) अर्थतंत्र के साथ अपने स्वार्थ जुड़े होने के कारण ये जातियाँ अपने लिए एक नया सामाजिक दर्जा और पहचान उपलब्ध कर पायीं अर्थात् उन्हें मध्यवर्ग की सदस्यता मिल गयी। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'मध्यवर्ग' की जातिगत पहचान पूरी तरह खत्म हो गयी थी। ये स्थिति समूह आराम से अपनी द्विज हैसियत और मध्यवर्गीय पहचान को एक साथ बनाये रहे क्योंकि दोनों श्रेणियाँ उनके लिए सहभागी साबित हो रही थी। द्विज राष्ट्रीय अभिजन और क्षेत्रीय किसान अभिजन का गठजोड़ राजनीतिक स्तर पर कच्चा बना रहा लेकिन दोनों मिल कर व्यापक समाज में एक नये सत्ता-समूह की तरह काम करते रहे। अभिजन जातियों के सत्ता-समूह की तरह कार्यरत इस मध्यवर्ग की रचना और कार्यशैली में निश्चित रूप से वर्ग की भावना का समावेश था। सामाजिक दर्जा प्राप्त करने की इसकी कोशिशों में सत्ता की महत्वाकांक्षा का पहलु मुखर था, लेकिन, समस्या यह थी कि पारंपरिक जातिगत दर्जे के नयी सत्ता में रूपांतरण की यह प्रक्रिया कर्मकांड-आधारित श्रेणीक्रम के ऊपरी हिस्से तक ही सीमित रही। ऊपर से इन स्थिति समूहों ने शेष समाज पर अपनी जाति सरीखी चौधाराहट थोपने के लिए भी इस सत्ता का इस्तेमाल किया। सत्ता और पंरपरा से प्राप्त हैसियत का यही गठजोड़ भारत में आधुनिकीकरण और लोकतंत्र की रूपांतरकारी संभावनाओं को कमजोर करने वाला साबित हुआ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि छोटे और सीमान्त किसानों, कारीगरों और दलितों और अनगिनत जनजातीय समुदायों का निम्न स्तर उनके लिए आधुनिक दुनिया में प्रवेश के लिए असुविधाजनक साबित हुआ। पंरपरागत व्यवस्था में उनके पास जो भी सामाजिक पूँजी और आर्थिक सुरक्षा थी उसे आधुनिकीकरण की प्रक्रिया ने आत्मसात कर लिया। पंरपरागत रूप से द्विज उनके खिलाफ अपनी श्रेष्ठता का मनमाना इस्तेमाल बिना रोक-टोक के नहीं कर सकते थे। आधुनिक क्षेत्र में संसाधनों के अभाव के कारण उच्च स्थिति में जीवन यापन करना उनके लिए सम्भव नहीं था तथा वे पृथक्कृत वर्गों की भूमिका ही सम्पन्न कर सकते थे। इस तरह वे दोनों श्रेणियों के सबसे निचले पायदान पर रहने के लिए अभिशप्त हो गये। चाहे वह कर्मकांडीय पवित्रता द्वारा निर्धारित होनेवाला श्रेणीक्रम हो या जाति-धर्म निरपेक्ष समझा जानेवाला वर्ग स्तर क्रम हो।

तत्कालीन कारणों से राजनीति में एक विशेष प्रकार का विभाजन अवश्य हुआ जिसे प्रभु-वर्ग के स्तर पर और जनता के विभिन्न तबकों के स्तर पर हुए विभाजन के रूप में देखा जा सकता है लेकिन, यह विभाजन भी समाज में सामाजिक-आर्थिक वर्गों के रूप में ध्रुवीकरण की संज्ञा नहीं पा सकता था। वामपंथी दल निचली जातियों को सर्वहारा वर्ग के रूप में राजनीतिक तौर पर गोलबन्द करने के अपने सभी प्रयासों में नाकाम रहे—चाहे वे प्रयास चुनावी राजनीति के लिए किये गये हो या क्रांतिकारी राजनीति के लिए। वर्ग-विचारधारा पर केंद्रित उनकी राजनीति राष्ट्रीय एकता और सामाजिक सद्भाव की नारेबाजी पर आधारित कांग्रेस के वर्चस्ववाली राजनीति के प्रभाव में कोई क्षय नहीं कर पायी। इसके उलट कांग्रेस सवर्णों के नेतृत्व में चलने वाली अपनी मध्यवर्गीय राजनीति को निचली जातियों के वोटों की मुहर के जरिये स्थापित करती चली गयी। एक खास तरह का जाति-वर्ग समीकरण तैयार हुआ जिसमें द्विज जातियों ने शासक वर्ग या 'मध्यवर्ग' के रूप में भागीदारी की ओर निचली जातियों अपनी अलग जातिगत चेतना लेकिन वर्ग सरीखी महत्वाकांक्षाओं के साथ शामिल हुई। इस समीकरण में कांग्रेस पार्टी के जरिये सवर्णों ने निचली जातियों के साथ क्षैतिज यानी समकक्षता के स्तर पर सम्बन्ध बनाने की बजाय उर्ध्वाधर यानी ऊँच-नीच वाला सम्बन्ध कायम किया।

जातियों के राजनीतिकरण की प्रक्रिया अस्सी के दशक की शुरुआत में ही अपने चरम पर पहुँच सकी। पिछड़ी जातियों के लिए बनाये गये दूसरे आयोग (मंडल आयोग) ने सभी राज्यों, केन्द्रशासित प्रदेशों और केन्द्र सरकार में अन्य पिछड़े वर्गों (छोटी किसान और कारीगर जातियों) के लिए भी नौकरियों और शिक्षा संस्थानों में आरक्षण करने की सिफारिश की। इन सिफारिशों का द्विज और मध्यम दर्जे की उन जातियों ने कड़ा विरोध किया। ये जातियाँ एक अरसे से मध्यवर्ग की सदस्यता से जुड़े लाभ की माँग कर रही थी। उन्हें लगा कि राजनीति का नया स्वाद चखनेवाली निचली जातियाँ मध्यवर्ग में (खासतौर से लिखाई-पढ़ाईवाली नौकरियों में) जबरन घुस आना चाहती हैं और इसके लिए वे प्रतियोगिता का मार्ग न अपनाकर जातिगत आरक्षण को माध्यम बना रही हैं। इस तरह द्विज और मध्य जातियाँ निचली जातियों के टकराव में खड़ी हो गयीं, जिसका परिणाम राष्ट्रीय राजनीति में निचली जातियों के जबरदस्त उभार में निकला और मध्यवर्ग में प्रवेश की महत्वाकांक्षा के साथ निचली जातियों की राजनीति शुरू हुई। इसी आयाम को अंग्रेजी शिक्षित प्रभु-वर्ग हिकारत से 'राजनीति का मंडलीकरण' कहता है। राजनीति के मंडलीकरण यानी निचली जातियों के राजनीतिकरण की प्रक्रिया तभी से भारतीय राजनीति के सामाजिक आधार को आमूल-चूल परिवर्तित होती जा रही है।

इन परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव से कांग्रेसी दबदबे का अंत हो गया। अब वह क्षेत्रों और जातियों के ऊपर से नीचे की तरफ काम करनेवाले समीकरणों के आधार पर राजनीति नहीं चला सकती थी। इस प्रणाली के शीर्ष पर बैठे प्रभु-वर्ग ने महसूस किया कि अब वह निचली जातियों द्वारा नीचे से सत्ता से बेहतर हिस्से और ज्यादा भागीदारी के लिए डाले जानेवाले दबाव को संतुष्ट नहीं कर सकता। सत्तर के मध्य से पूरे अस्सी के दशक तक सामाजिक समूहों के बड़े-बड़े तबके कांग्रेस को छोड़ते चले गये। उन्होंने अपने अलग राजनीतिक दलों का गठन किया और बदलते हुए गठजोड़ों की राजनीति में लग गये। कांग्रेस, भाजपा और कम्युनिस्ट पार्टियों सरीखे राष्ट्रीय दलों को राजनीतिक समर्थन प्राप्त करने के लिए अन्य पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों या जनजातियों के सामाजिक-राजनीतिक संगठनों या इनके द्वारा गठित क्षेत्र-जाति दलों के साथ सीधी बातचीत करना अनिवार्य हो गया।

देश-भर के पैमाने पर उभरे नये स्तरविन्यास में पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों व जनजातियों ने मजबूत सामाजिक और राजनीतिक तात्पर्य ग्रहण करके नयी-नयी सामाजिक संरचनाएँ बना लीं। ये तीनों श्रेणियाँ आरक्षण नीतियों को लागू करने के प्रशासनिक उद्देश्य से ही बनायी गयी थी और उनका कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं था, लेकिन उनका परिणाम पूरी तरह से राजनीतिक-सामाजिक था। अब ये तीनों श्रेणियाँ राजनीतिक रूप से आत्मसचेत सामाजिक-आर्थिक समूहों की तरह सक्रिय हो गयीं। वे द्विज और मध्यवर्गीय प्रभु-वर्ग द्वारा दिये गये प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व से संतुष्ट होनेवाली नहीं थी। वे तो राजसत्ता अपने हाथ में लेना चाहती थी। इस तरह राजनीति ऊँच-नीचवाले समीकरणों में होने की बजाय अर्थात् क्षैतिज समान स्तर पर प्रतिनिधित्व के लिए होनेवाली दौड़ के रूप में परिवर्तित हो गयी जिसमें आरक्षण की नीति के गर्भ से जन्मे

सामाजिक समुदाय पहले से जन्मे सवर्णों और मध्यवर्ग से संघर्षरत थे (सेठ 1997: 1947-87)। इन समूहों ने विभिन्न पार्टियों से सौदेबाजी शुरू की या अपनी नयी पार्टियाँ बना लीं। अब पारंपरिक श्रेणीक्रम के जो भी रूप बचे थे, वे राजनीति में आकर पूरी तरह ऊर्ध्वाधर की बजाय क्षैतिज हो गये।

मंडलीकृत राजनीति ने निचली जातियों में मध्यवर्गीय स्तर और जीवन-शैली के प्रति लगाव पैदा कर दिया जिससे वर्ग ध्रुवीकरण की प्रक्रिया रूक गयी। सामाजिक दायरे में इस राजनीति ने नयी विवशताओं को पैदा कर दिया। उच्च और मध्य जातियों की चौधराहट वाले मध्यवर्ग को विवश होकर अपना विस्तार करना पड़ा।

उधर निचली जातियों ने राजनीति में गठजोड़ बनाते हुए सामाजिक स्तर पर मध्यवर्ग के बढ़ते हुए दायरे में प्रवेश पाने के लिये आपस में भी तीव्र प्रतियोगिता प्रारम्भ हो गयी।

आरक्षण नीति ने जातियों के राजनीतिकरण को जबर्दस्त आवेग प्रदान किया, साथ ही अंतरजातीय सम्बन्धों में कर्मकांडों का महत्व नगण्य हो गया। आरक्षण की नीति ने अनगिनत निम्न जातियों के लिए शैक्षणिक और व्यवसायगत विशेष सुविधाएँ मुहैया करके उनके निम्न कर्मकांडीय स्तर को उनके लिए नुकसानदेह की बजाय लाभकारी बना दिया। अब वे पारंपरिक जाति-व्यवस्था में अपनी निचली हैसियत के नाम पर नये सामाजिक स्तर-विन्यास में ऊँची जगह पाने का दावा करने लगे। शहरीकरण और औद्योगिकीकरण के विस्तार के साथ-साथ जातियों के राजनीतिकरण ने समाज में एक नये प्रकार के स्तर-विन्यास के उदय में योगदान किया। इस नये विन्यास में पुराना मध्यवर्ग न केवल संख्यात्मक रूप से विस्तृत हो चुका था बल्कि उसने नयी सामाजिक और राजनीतिक खूबियाँ ग्रहण करनी शुरू कर दी थीं।

जाति के वर्ग में रूपांतरण की प्रक्रिया न तो रैखिक होती है और न ही प्रयोजनमूलक और न ही यह प्रक्रिया जाति की संस्था द्वारा अपना जीर्णोद्धार करने के लिए इस्तेमाल होनेवाले उपादान की तरह होती है। वर्ग में रूपांतरण की प्रक्रिया को दो प्रकार से देखा जा सकता है (अ) यह प्रक्रिया सभी जातियों के सदस्यों को व्यक्ति के रूप में धार्मिक मान्यता प्राप्त व्यवसायगत और कर्मकांड-आधारित स्तर अर्थात् प्रौद्योगिकीय, आर्थिक और सामाजिक ग्राम्यावस्था की जकड़ से मुक्तकारी प्रभाव अलग-अलग जातियों में भिन्न-भिन्न सीमाओं तक पड़ता है, (ब) यह प्रक्रिया जातियों के सदस्यों के निजी हितों और पहचान को आधुनिक राजनीति तथा शहरी-उद्योगीकृत व्यवस्था से निकली श्रेणियों से जोड़ देती है। यह परिवर्तन न केवल शहरी क्षेत्रों में घटित होता है वरन् यह ग्रामीण क्षेत्रों भी लगातार बढ़ता जा रहा है। वर्ग में रूपांतरण के ये दोनों पहलू न तो क्रमवार घटित होते हैं और न ही इनमें स्थानिक रूप से अलगाव है। ये कभी-दूसरे की सीमाओं को लॉघते हैं, कभी मिलते हैं और अलग हो जाते हैं। इनके अंतस्तल से जो परिवर्तन निकलता है, वह हमें नये उदीयमान और सामाजिक स्तर विन्यास की समाजगत व्यवस्था के रूप में दिखाई देता है।

यह नया उदीयमान सामाजिक स्तर-विन्यास अभी तक व्यवस्था का रूप नहीं ले पाया है, फिर भी समाज के प्रत्येक स्तर पर नयी सामाजिक और आर्थिक श्रेणियाँ उभरी हैं, जिनके कारण जाति अपना आकार और चरित्र खोती हुई नया रूप और विचारधारा प्राप्त कर रही है। वर्तमान समय में जाति के सदस्य जिस तरह की आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों में लगे रहते हैं वे जाति-व्यवस्था द्वारा पारंपरिक रूप से चलायी जानेवाली गतिविधियों से कतई भिन्न किस्म की हैं। पहले कर्मकांड द्वारा निर्धारित ऊँचे-नीचे दर्जों का समीकरण जातियों के बीच सद्भाव और सहयोग को बढ़ावा देता था। अब यह एक-दूसरे से समान स्तर पर (क्षैतिज रूप से) होड़ करते हुए सत्ताकांक्षी गुटों के टकराव में बदल गया है। पारंपरिक स्थानीय श्रेणीक्रम के हिसाब से अलग-अलग दर्जा रखनेवाली कई-कई जातियों से मिलकर ऐसा एक गुट बनता है। इस तरह समाज में समूचे पैमाने पर नयी सामाजिक-आर्थिक संरचनाएँ बन गयी हैं, जिनमें कुछ जातीयता आधारित भी हैं। इनमें समाज के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों पर नियंत्रण को लेकर प्रतियोगिता हो रही है। समाज में उच्च स्तर प्राप्त करने का विचार आजकल केवल निम्न जातियों को ही नहीं बल्कि सभी जातियों के लोगों को अपील करता है, और वे सामूहिक तौर पर भी निजी तौर पर भी इसके लिए कोशिश करते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अतीत की भाँति जाति ने स्वयं का जीर्णोद्धार करना बन्द कर दिया है।

यह नवीन व्यवस्था अभी निर्मित होने की प्रक्रिया में है। इसका वर्णन अभी न तो जाति की शब्दावली में किया जा सकता है, न ही प्रबुद्ध वर्ग की शब्दावली में। यह जरूर है कि पिछले कुछ वर्षों में इस एक श्रेणी की महत्ता काफी कुछ स्पष्ट हो गयी है इसे हम 'नया मध्यवर्ग' कह सकते हैं यह नया इसलिए है क्योंकि इसके उद्भव को सीधे-सीधे जाति-व्यवस्था के बिखराव से जोड़ा जा सकता है और इस नयेपन ने मध्यवर्ग को पहले से कहीं अधिक विविध बना दिया है। पहले के मध्यवर्ग यानी आजादी के समय इस वर्ग पर सवर्णों की चौधराहट थी। इसके अलावा पारंपरिक श्रेणीक्रम में ऊच्च स्तर को मानदंड बनाकर इस पुराने मध्यवर्ग में प्रवेश पाया जा सकता था (श्रीनिवास 1962: 63-69)। इसकी 'संस्कृतीकृत' जीवन-शैली एक सांस्कृतिक संलक्षण की तरह उभरती थी, जबकि नये मध्यवर्ग की रचना में कर्मकांडीयता और संस्कृतीकरण अप्रासंगिक हो गये हैं। नये मध्यवर्ग की सदस्यता नयी जीवन-शैलियों (आधुनिक उपभोग के तौर-तरीकों) के साथ-साथ कुछ खास तरह की आर्थिक परिसंपत्तियों के स्वामित्व और मध्यवर्ग के होने के आत्मवेतना पर निर्भर होती है। यह नया मध्यवर्ग विभिन्न जातियों के लिए खुला हुआ है। आधुनिक शिक्षा, गैरपारंपरिक व्यवसायों, ऊँची आमदनी और राजसत्ता से लैस होकर कोई भी जाति या उसका सदस्य इसमें प्रवेश प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त इस नये मध्यवर्ग को विशुद्ध वर्ग करार नहीं दिया जा सकता। जब भी कोई व्यक्ति अपनी जाति के सामूहिक, राजनीतिक और आर्थिक संसाधनों की बिना पर मध्यवर्ग में दाखिल होता है, तो वह अपनी जाति के कुछ तत्व भी उस वर्ग में ले जाता है। मसलन, द्विज अपने साथ अपने परंपरागत ऊँचे से जुड़ी सुविधाएँ और लाभ लाता है और निचली जाति का व्यक्ति इस प्रकार के संसाधनों से वंचित होने के कारण अपने प्रवेश के लिए सरकार द्वारा प्रदत्त आधुनिक विधि-सम्मत आरक्षण के प्रावधानों का सहारा लेता है जिनका प्रश्रय उसे परंपरागत रूप से निम्न स्तर का होने के कारण मिला है। साथ ही इस मध्यवर्ग की रचना के लिए ये तथ्य काफी महत्वपूर्ण हैं कि : (अ) अपनी-अपनी जातियों के सामूहिक संसाधनों का इस्तेमाल करने के बाद भी जाति के सदस्य व्यक्ति के रूप में मध्यवर्ग में कदम रखते हुए वर्ग में रूपांतरण की प्रक्रिया से दो-चार होते हैं। वे अपनी जाति से जुड़ी हुई कर्मकांडीय भूमिकाओं और काम-काज से दूर होते चले जाते हैं, (ब) उन्हें अपनी जाति के अलावा मध्यवर्ग का होने की एक अन्य पहचान भी मिल जाती है, (स) उनके आर्थिक हित और जीवन-शैली अपने गैर-मध्यवर्गीय जाति-भाइयों की अपेक्षा मध्य वर्ग के अन्य सदस्यों से ज्यादा मेल खाती है।

वर्तमान समय में भारतीय मध्यवर्ग में ग्रामीण सदस्यों की संख्या काफी है। इसका कारण प्रारम्भ में इसके दायरे में आया गाँव-आधारित प्रभुता सम्पन्न जातियाँ और हाल ही में प्रवेश पायी वे निचली जातियाँ हैं जो आधुनिक अर्थतंत्र और प्रशासन में भागीदारी कर रही हैं। इससे स्पष्ट है कि आज का भारतीय मध्यवर्ग जनसंख्यामूलक दृष्टि से कोई एक निश्चित कर्मकांड-आधारित स्तर वाली श्रेणी से नहीं निकला है, वरन् इसकी शक्ल तो सामाजिक-सांस्कृतिक किस्म की है। यह एक ऐसी संरचना है जिसके सदस्य विभिन्न जातियों और समुदायों से आते हैं। शैली भी बदल कर इस वर्ग के अन्य सदस्यों जैसी हो गयी है। नये मध्यवर्ग में उसके सदस्यों की जातिगत पहचान बची तो रहती है। लेकिन उसे मध्यवर्ग की समग्र पहचान के तहत ही रहना पड़ता है और इस तरह यह पहचान एक भिन्न संस्कृति और सांस्कृतिक तात्पर्य ग्रहण कर लेती है (बैतइ 1996: 15-27)।

उपसंहार के तौर पर कहा जा सकता है कि जाति के धर्मनिपेक्षीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ जाति के साथ तीन तरह की घटनाएँ भी हुईं। वह कर्मकांडों की जकड़ से निकली, उसका राजनीतिकरण हुआ और उसका वर्ग में रूपांतरण हुआ। इस तरह जाति कुंटुंब-आधारित एक लघु समुदाय में सीमित हो गयी। उसके सदस्यों के कदम एक नयी जमीन पर जम गये। उन्होंने नयी पहचान प्राप्त कर ली। यह नयी जमीन और नयी पहचान एक नये तरह के सामाजिक स्तर-विन्यास से निकली थी जिसके आधार में पारंपरिक श्रेणीक्रम से भिन्न मूल्य कार्यरत थे। आज विभिन्न जातियों के सदस्य क्षैतिज स्तर पर बड़े-बड़े सामाजिक समूह बना कर मध्यवर्ग में प्रवेश की होड़ कर रहे हैं। परिणामस्वरूप निम्न जातियों के सदस्यों ने मध्यवर्ग में भारी संख्या में प्रवेश प्राप्त कर लिया है, इसके कारण आजादी से पहले के मध्यवर्ग का चरित्र और संरचना बदलनी शुरू हो गयी है। उस समय का मध्यवर्ग लगभग पूरी तरह अंग्रेजी शिक्षित आबादी के पाँचवें हिस्से के बराबर है। यह धीरे-धीरे ही सही पर राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप से अधिक एकीकृत होता जा रहा है, साथ ही उसके सदस्यों के सामाजिक उदगम में काफी विविधता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- कोहन, बर्नार्ड एस. 1987: 'नोट्स आन द हिस्ट्री आन द इंडियन सोसाइटी एण्ड कलचर', *एन एंथ्रोपोलिजिस्ट एमंग द हिस्टोरियंस एंड अदर एसेज*, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, पृष्ठ 139-40
- घुरिए, जी.एस. 1962: 'कास्ट ड्यूरिंग द ब्रिटिश रूल', संकलित *कास्ट एंड रेस इन इंडिया*, बम्बई: पापुलर प्रकाशन, पृष्ठ 270-305
- गैलेंटर, मार्क 1994: 'रिफार्म, मोबिलिटी एण्ड पॉलिटिक्स अंडर ब्रिटिश रूल' इन *कंपीटिंग ईक्वालिटीज, लॉ एंड बैकवर्ड क्लासेज इन इंडिया*, दिल्ली: आक्सफोर्ड, पृष्ठ 18-40
- ऑमवित, गेल 1976: *कल्चरल रिवोल्ट इन ऐ कोलोनियल सोसाइटी-द नॉन ब्राह्मण मूवमेंट्स इन वेस्टर्न इंडिया-1873-1930*, बम्बई: साइंटिफिक सोशललिस्ट एजुकेशन ट्रस्ट।
- फिलशक, यूजेन 1969: *पॉलिटिक्स एंड सोशल कांपिलक्ट इन साउथ इंडिया, द नानब्राह्मण मूवमेंट्स एंड तमिल सेपरेटिज्म 1916-1929*, बर्कले: यूनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया।
- शाह, ए.एम. 1988: 'ए रिस्पांस टु द क्रिटिक ऑन डिवीजन एण्ड हीराकी संकलित': ए.एम.शाह और आई.पी.देसाई, *डिवीजन एण्ड हीराकी एन ओवरव्यू ऑफ कास्ट इन गुजरात*, दिल्ली: हिन्दुस्तान पब्लिशिंग कार्पोरेशन, पृष्ठ 92-133।
- आई.पी.देसाई, 1984: 'शुड कास्ट बी द बेसिज फार रिकगनाइजिंग बेकवर्डनेस?', *इकानॉमिक एंड पालिटिकल वीकली*, खंड 19, क्रमांक 26, जुलाई 1984, पृष्ठ 1106-16।
- कारंत, जी.के. 1962: 'कास्ट इन कंटेम्परेरी रूरल इंडिया', एम.एन.श्रीनिवास, संकलित *कास्ट इन माडर्न इंडिया एण्ड अदर एसेज*, बम्बई: एशिया पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ-87-109।
- लोहिया, राममनोहर 1964: *द कास्ट सिस्टम*, हैदराबाद: राममनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास।
- कोठारी, रजनी 1964: 'द कांग्रेस सिस्टम इन इंडिया,' *एशियन सर्वे* (खंड 4, क्रमांक 12, दिसम्बर 1964) पृष्ठ 1101-73।
- कोठारी, रजनी 1970: *कास्ट इन इंडियन पॉलिटिक्स*, हैदराबाद: ओरिएन्ट लॉगमैन, अध्याय 1, पृष्ठ 3-25।
- कोठारी, रजनी 1989: 'द कांग्रेस सिस्टम रिविजिटिड', संकलित : *पॉलिटिक्स एण्ड पीपुल, इन सर्वे ऑव हामेन इंडिया, खण्ड 1*, दिल्ली: अजन्ता पब्लिशर्स, पृष्ठ 36-48।
- सेठ, डी0एल0 1996अ: 'राममनोहर लोहिया आन कास्ट इन इंडियन पॉलिटिक्स', *लोकायन बुलेटिन* (खंड 12, क्रमांक 4, जनवरी फरवरी 1996), पृष्ठ 31-40।
- सेठ, डी0एल0 1996ब: पॉलिटिक्स, *लोकायन बुलेटिन* (खण्ड 13, क्रमांक 2, सितम्बर-अक्टूबर 1996), पृष्ठ 1-15।
- सेठ, डी0एल0 1997: रिजर्वेशन पॉलिसी रिविजिटिड', *इकानॉमिक एंड पालिटिकल वीकली*, नवम्बर 10, 1997, पृष्ठ 1947-87।
- श्रीनिवास, एम.एन. 1962: 'वर्ण एंड कास्ट', संकलित : *कास्ट इन माडर्न इंडिया एण्ड अदर एसेज*, बम्बई: एशिया पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ 63-69।
- श्रीनिवास, एम.एन. (सम्पादित) 1996: *कास्ट, इट्स टर्वेन्थि सेन्चुरी अवतार*, नयी दिल्ली: वाइकिंग, पेंग्विन इंडिया पब्लिशिंग हाउस।
- बेतई, आंद्रे 1996: 'वर्ण और जाति', *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन*, खण्ड 4, क्रमांक 7, मार्च 1996, पृष्ठ 15-27।